पुलिस और सशस्त्र बलों में महिला अधिकारी

रेखा नांबियार

समाज और कार्यस्थल में महिलाओं की भूमिका के लिए भारत अध्ययन का रोचक विषय है। कानूनी तौर पर तो हमारे देश में महिलाओं को पुरुषों के समान ही सब अधिकारों की गारंटी दी गई है परंतु सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में समानता दिए जाने की प्रक्रिया की गति धीमी ही है। केंद्रीय सशस्त्र पुलिस बल में महिला अधिकारी होने के नाते मैं 20 वर्ष के अपने अनुभवों के आधार पर देशभर में पुलिस संगठनों में महिलाओं की बदलती छवि के बारे में अपने विचार प्रकट करना चाहती हूं।

महिलाओं को कार्यस्थल पर मानसिक और यौन प्रताड़ना झेलनी पड़ती है, इस दिशा में अभी कोई बड़ा बदलाव नहीं आया है। महिलाओं के प्रति भेदभाव और उपेक्षा के मामले बड़ी संख्या में सामने आते ही रहते हैं। देशभर के पुलिस थानों और कार्यालयों में महिलाओं के लिए बाथरूम वगैरह की कमी जैसी समस्याएं ज्यों की त्यों चली आ रही हैं। जिम्मेदारी और सम्मान वाले कार्य सौंपने में महिलाओं से भेदभाव किया जाता है और परिवार से सहयोग कम मिलने के कारण महिलाएं अपनी क्षमता के अनुरूप आगे नहीं बढ़ पातीं। जानबूझकर या अनजाने में आने वाली अड़चनों की वजह से ही महिलाओं के प्रति समानता का वायदा पूरा नहीं हो पाता।

मैं मन ही मन सोचती हूं कि यह मेरी अच्छी किस्मत ही थी कि मेरा जन्म सुशिक्षित परिवार में हुआ और बाल्यावस्था से ही मुझ में आत्मसम्मान की भावना विकसित हो गई थी। मुझे अवसर या समानता के लिए कभी संघर्ष नहीं करना पड़ा। मुझे कभी परिवार के असहयोग अथवा विरोध का दबाव नहीं सहना पड़ा। लेकिन यह भी कड़वा सच है कि बहुत सी महिलाओं के लिए प्रगति की राह कठिनाइयों और अड़चनों से भरी थी।

जैसे-जैसे कार्यस्थल में शामिल होने वाली महिलाओं की संख्या बढ़ रही है वैसे-वैसे ही कार्यस्थल का वातावरण भी बदल रहा है। यदि हम 1940 के दशक से 1970 के दशक के बीच उभरी तीन पीढ़ियों– ''द बेबी बूमर्स'', ''द जेनएक्सयर्स'' और ''द मिलेनियल्सी'' के दौर में लोगों की मानसिकता, सामाजिक चलन और रीति-रिवाज़ तथा कार्यस्थल के माहौल पर गौर करें तो यह अंतर साफ समझ में आ जाएगा।

''बेबी बूमर्स'' 1940 और 1950 के दशक में जन्मी उस पीढ़ी की महिलाएं हैं जिन्हें जन्म से ही यह समझाया गया था कि विवाह करके मां बनना ही उनके जीवन का उद्देश्य है। असल में उस दौर में कामकाजी बनने की सोचने वाली महिलाओं को आक्रोश और प्रताड़ना झेलनी पड़ती थी और उन्हें हल्के आदर्शों वाला माना जाता था। इसी वजह से कुछेक साहसी महिलाओं ने ही बाहर निकलकर काम करने का विकल्प अपनाया।

इसके विपरीत 1960 और 1970 के दशकों में जन्मी ''द जेनएक्सार्स'' पीढ़ी की महिलाओं ने बदलाव की प्रक्रिया को बेहतर विकल्प माना। उन्होंने सफल विवाहित जीवन और कुशल महिला अधिकारी दोनों की भूमिकाएं बखूबी निभाईं। बदलाव लाने वाली अग्रणी पीढ़ी होने के कारण चुनौतियों का सामना तो उन्होंने भी किया पर हालात वैसे जटिल या उग्र नहीं थे। 'बेबी बूमर्स' द्वारा शुरू किए गए नारीत्व आंदोलन को आगे बढ़ाते हुए इस पीढ़ी ने पुरुषों की बपौती मानी जाने वाली चुनौतियां झेलने का दम दिखाया और सशस्त्र बलों में उन पदों पर पहुंच गईं जिन्हें संभालना केवल पुरुषों का ही एकाधिकार समझा जाता था।

उन्होंने कॅरिअर (भविष्य) और परम्परा दोनों में तालमेल बनाकर महत्वपूर्ण क्षेत्रों में कामयाबी हासिल की।

लेखिका 04 बीएन एनडीआरएफ, अरक्कोणम की पहली और एकमात्र महिला बटालियन कमांडिंग ऑफिसर हैं और वे आपदा विमोचन दल के अभियानों की कई बार इंचार्ज रही हैं। ईमेल: rekhanam@gmail.com

प्रथम तो यह कि उन्होंने भविष्य में महिलाओं के लिए गैर-परम्परागत सेवाओं में भर्ती होने का रास्ता खोला और पुरुषों के वर्चस्व वाले अनेक दायित्व पूरे करके अपनी उपस्थिति दर्ज कराई।

उनका इतना ही महत्वपूर्ण दूसरा योगदान था अगली पीढ़ी ''द मिलेनियल्स' को ऐसी सुव्यवस्थित महिलाओं के रूप में तैयार और विकसित करना जिनमें पिछली पीढ़ी जैसा कमतरी का एहसास या महिला होने के कारण किसी प्रकार की हीनता की भावना न हो।

1980 और 1990 के दशकों में जन्मे पुरुष अधिक खुली सोच वाले हैं और वे कॅरिअर चुनने में स्त्री-पुरुष भेद की परम्परावादी सोच या कुंठा से जकड़े रहने की व्यवस्था को सिरे से नकारते हैं। मिलेनियल पीढ़ी के ये पुरुष कार्यबल में महिलाओं के आने का स्वागत करते हैं और अपनी महिला सहकर्मियों से समानता और सम्मान का व्यवहार करते हैं।

जैसे-जैसे कार्यस्थल में शामिल होने वाली महिलाओं की संख्या बढ़ रही है वैसे-वैसे ही कार्यस्थल का वातावरण भी बदल रहा है। यदि हम 1940 के दशक से 1970 के दशक के बीच उभरी तीन पीढ़ियों – ''द बेबी बूमर्स'', ''द जेनएक्सयर्स'' और ''द मिलेनियल्सी'' के दौर में लोगों की मानसिकता, सामाजिक चलन और रीति-रिवाज़ तथा कार्यस्थल के माहौल पर गौर करें तो यह अंतर साफ समझ में आ जाएगा।

मिलेनियल पीढ़ी की महिलाएं इसी विश्वास को लेकर बड़ी हुई हैं कि उन्हें सशस्त्र बलों में कॅरिअर बनाने की आकांक्षा रखने का अधिकार तो है ही साथ ही उन्हें राष्ट्रनिर्माण में भी सहयोग और योगदान करना है।

40-50 वर्ष के थोड़े समय में ही सोच में इतना जबरदस्त बदलाव आ गया है। इस प्रक्रिया में बेहद खींचातानी और विरोध उभरे लेकिन ईश्वर की कृपा से स्त्री-पुरुष समानता की दिशा में अटल इच्छा शक्ति से प्रयास चलते रहे।

अब जैसे-जैसे ज्यादा से ज्यादा महिलाएं अपने अधिकार के लिए सामने आ रही हैं वैसे ही एक शांत क्रांति भी आती जा रही है। महिलाओं में अपने स्वयं के प्रति, अपनी योग्यताओं के प्रति और अपनी कार्यक्षमताओं के प्रति आत्मविश्वास आमतौर पर बढ़ रहा है। वे जीवन में एक मूकदर्शक बने रहना नहीं चाहतीं अपने जीवन के बारे में अहम फैसले लेने लगी हैं। जिस गति से महिलाएं स्वतंत्र सोच अपना रही हैं उसे देखते हुए इन बदलावों की गति भी तेज होती जाएगी।

इस बढ़ती कार्यक्षमता के आधार पर मुझे अपने जैसी उन महिलाओं के लिए महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई दे रही है जो इस सिस्टम (व्यवस्था) में दस-बीस वर्ष या और भी ज्यादा वक्त से अपना योगदान करती आ रही हैं। सशस्त्र बलों में सेवारत महिलाओं का यह नैतिक दायित्व बनता है कि वे इन बलों में नई आने वाली महिलाओं को रास्ता दिखाएं और अपने अनुभव के आधार पर उनका मनोबल बढ़ाएं।

महिलाओं के लिए यह समझना भी इतना ही जरूरी है कि वे सिस्टम के विरोध में खड़ी हो रही हैं तो स्वाभाविक ही उन्हें प्रतिरोध का सामना करने के लिए तैयार रहना होगा। उन्हें एकदम सहज रहकर इस प्रतिरोध का प्रतिकार करना होगा और कड़ी मेहनत और दृढ़ निश्चय के साथ अपना स्थान स्वयं ही बनाना होगा क्योंकि यह कॅरिअर उन्होंने खुद ही चुना है। इस प्रयास और इस समूची प्रक्रिया में यह समझ लेना भी आवश्यक है कि हर अड़चन और अवरोध स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव के कारण ही नहीं आता है।

किसी भी कॅरिअर में सफलता पाने के लिए निष्ठा और बुद्धिमानी; कड़ी मेहनत और दृढ़ इच्छाशक्ति; संकल्प और स्पर्धा में टिके रहने की भावना होना निहायत जरूरी है।

कार्यस्थल में चुनौतियां तो हरदम रहेंगी। हमेशा हालात कठिन होंगे। विरोध और प्रतिकार भी होगा। असफलताएं भी आती हैं जिन्हें पार करना होगा। इसी संघर्ष का नाम दृढ़ता है। असफल होने से बड़ा फर्क नहीं पड़ता। महत्वपूर्ण तो यह होता है कि नाकाम रहने के बाद आप क्या करते हैं। जरूरी तो यही है कि आप स्वयं को संभालें और अधिक साहस और संकल्प के साथ फिर जुट जाएं। प्रसिद्ध लेखक रियान होलिडे के अनुसार ''मुश्किलें ही हमें मजबूत बनाती हैं।''

यह समझना भी उतना ही जरूरी है कि हम मान लें कि कड़ी मेहनत, मजबूत इरादा और दृढ़ संकल्प ही सफल व्यक्तियों के मुख्य साधन रहे हैं फिर चाहे वे पुरुष हो अथवा महिला। दोनों के लिए यही नियम लागू होते हैं।

इस मोड़ पर मैं अपने कॅरिअर की शुरुआत के दौर में घटित दो घटनाओं के बारे में बताना चाहूंगी जिन्होंने मेरा जीवन बदल दिया और मैं वैसी अफसर बन सकी जैसी आज हूं। इन दोनों अनुभवों से मैं समझ गई कि जो कार्य मैं कर रही हूं उसमें किसी तरह भी मेरे महिला होने का कोई प्रभाव नहीं था। इसी प्रकार मेरे सहयोगियों के पुरुष होने का भी हमारे परस्पर विचार-विमर्श या सोच पर कोई असर नहीं था।

कांस्टेबल नौटियाल (नाम बदलकर लिख रही हूं) मेरी कमान में काम करते थे। जब मैंने यूनिट ज्वॉइन की तो वे पहले से ही वहां कार्यरत थे। ज्वॉइन करने के वक्त ही मुझे बता दिया गया था कि कांस्टेबल नौटियाल को शराब पीने की लत थी और वे झगड़ालू किस्म के होने के साथ-साथ अनुशासन में भी नहीं रहते थे। समझाने-बुझाने या सजा देने का भी उन पर कोई असर नहीं होता था। जल्दी ही मुझे रिपोर्ट मिली कि वे ड्यूटी पर शराब पीकर आए थे। मैं अनुशासनहीनता सहन नहीं करती थी, मैंने उन्हें चार्जशीट दे दी और पूरे एक सप्ताह का वेतन काट दिया। दो दिन बाद शराब पिए होने पर उन्होंने झगड़ा कर लिया। इस बार भी उन पर तुरन्त अनुशासनात्मक कार्रवाई की गई। फिर, उनका सात दिन का वेतन काट लिया गया। तीसरी और चौथी बार भी उन पर यही दंडात्मक कार्रवाई की गई। पर, कांस्टेबल नौटियाल जरा भी नहीं बदले। मेरे अधीनस्थ सहयोगियों ने उन्हें नौकरी से बर्खास्त करने की कागज़ी कार्रवाई चलाने का सुझाव दिया।

आखिरी फैसला करने से पहले मैं कांस्टेबल नौटियाल से बात करने उनकी ड्यूटी चौकी पर गई। एक-दूसरे पर कोई आरोप-प्रत्यारोप नहीं लगाए गए। किसी ने भी दूसरे पर दोष नहीं मढ़ा और न किसी को भला-बुरा कहा। मैं तो सिर्फ यही जानना चाहती थी कि वे खुद की बर्बादी के रास्ते पर क्यों जा रहे थे।

मैं उनके साथ बैठकर यह पूछने में लगी थी कि वे किस खास वजह या परेशानी से यह सब कर रहे थे। आधे घंटे की पूरी खामोशी के बाद उन्होंने अपना दिल खोलकर रख दिया। उन्होंने मुझे बताया

कि उनके तीन बेटे 'मस्कुलर डिस्ट्रोफी' यानी मांसपेशियों में तेजी से कमज़ोरी आने की आनुवांशिक बीमारी के कारण मर चुके हैं। उनके तीनों बेटों में 7 से 9 वर्ष की आयु के बीच यह बीमारी होने का पता चला और 14 से 17 की उम्र में उनकी मृत्यु हो गई।

इसके बाद, मैंने उनकी पत्नी और कुछ अन्य रिश्तेदारों को उनके पैतृक गांव से बुलवाया। कांस्टेबल नौटियाल की स्वीकृति और रजामंदी से उन्हें नशामुक्ति कार्यक्रम में भर्ती कराया गया और उन्हें और उनकी पत्नी की काउंसलिंग कराने की भी व्यवस्था की गई।

कांस्टेबल नौटियाल में जल्दी ही पूरी तरह बदलाव आ गया और कुछ महीने बाद वे ड्यूटी पर आ गए। कांस्टेबल नौटियाल मेरे सर्वाधिक अनुशासित और समर्पित कांस्टेबल बन गए थे। उन पर हर काम के लिए भरोसा किया जा सकता था। मुझे ज्ञात था कि नशामुक्ति में सफल होना बहुत कष्टकारी होता है और अक्सर व्यक्ति वापिस नशे का शिकार हो जाता है, इसलिए मैं पूरे ध्यान से उनकी हालत पर नज़र रखती थी। सद्व्यवहार के प्रति उनकी निष्ठा अद्भुत थी।

कई महीने बाद मुझे आवश्यक निजी कार्य के लिए करीब एक महीने की छुट्टी लेनी पड़ी। उन दिनों मोबाइल फोन भी नहीं होते थे जिससे मैं अपने दफ्तर और वहां के कामकाज से पूरी तरह कटी रही।

ड्यूटी पर लौटने पर मुझे पता लगा कि कांस्टेबल नौटियाल फिर शराब पीने लगे थे। शराब पीने के बाद नशे में कार्यस्थल से काफी दूर उनका कुछ अज्ञात लोगों से झगड़ा हो गया और मारपीट में उनकी मृत्यु हो गई थी। अगले दिन, सड़क के किनारे उनका शव मिला था।

दफ्तर में मेरे अर्दली ने मुझे बताया कि मृत्यु से पहले कांस्टेबल नौटियाल ने लगातार तीन दिन मुझसे मिलने की कोशिश की थी। बाद में मुझे यह भी पता चला कि उनके चौथे और सबसे छोटे बेटे को भी आठ वर्ष की उम्र में 'मस्कुलर डिस्ट्रोफी' होने की पुष्टि हो गई थी।

युवा कांस्टेबल रावत की पहली तैनाती मेरी यूनिट में हुई थी। वे क्विक रिएक्शन टीम (त्वरित प्रतिक्रिया दल) में थे और यह जानने के लिए कि उनकी टीम चुस्त और मुस्तैद है या नहीं, वे रात में एक बजे मॉक ड्रिल कर रहे थे। जैसे ही टीम के सदस्य अपने-अपने वाहनों से निकलकर उस स्थल के अंधेरे-सुनसान कोने में उतरे और ऊबड़-खाबड़ जमीन पर पोजीशन लेने की उपयुक्त जगह तलाश कर रहे थे तभी मैंने कांस्टेबल रावत को लड़खड़ाकर गिरते देखा।

पर, एक सच्चे सैनिक की भांति उन्होंने अपने हथियार को धरती से टकराने से बचाने की पूरी कोशिश की और इसी सिलसिले में वे कोहनी के बल धड़ाम से गिर पड़े। करीब 10 फुट के फासले पर खड़े-खड़े ही मैंने हड्डी टूटने की जोरों की आवाज सुनी। मैं टॉर्च जलाकर उनके पास गई और उनकी आंखों में असहाय पीड़ा को तैरते देखा। मैंने उनका हथियार उठा लिया ताकि उनकी टूटी हुई बाजू पर वजन कम हो जाए और फिर उन्हें खड़े होने का ऑर्डर दिया। युवा कांस्टेबल ने विरोध में कुछ भी बोले बिना आदेश का पालन किया और खड़े हो गए। उनकी आंखें मेरे चेहरे पर जमी थीं।

मैंने उनकी फ्रैक्चर हुई बाजू की जांच करके उसे टिकाने की कोशिश की और इस समूची क्रिया के दौरान वे एकदम चुप खड़े रहे। मैंने उन्हें एम्बुलेंस में बिठाकर नजदीक वाले टेरिटियरी-केयर ट्रोमा एंड ऑर्थोपेडिक अस्पताल भिजवा दिया और डॉक्टर से उनकी पूरी देखभाल करने का आग्रह भी कर दिया। पूरे समय कांस्टेबल रावत की आंखें मुझ पर टिकी रहीं। जब तक मैंने उन्हें अस्पताल भेजने और इलाज कराने का फैसला किया, उन्होंने न तो अपने दर्द या तकलीफ के बारे में कुछ कहा और न ही कोई सवाल पूछा।

लगातार 30 घंटे से भी ज्यादा समय तक जागते रहने के बाद सवेरे 9 बजे मेरी शिफ्ट पूरी हुई। मानसिक और शारीरिक थकान के कारण मैं सो जाना चाहती थी क्योंकि शाम पांच बजे से फिर मेरी शिफ्ट शुरू होने वाली थी।

लेकिन बीती रात की याद और कांस्टेबल रावत के साहसपूर्ण व्यवहार और कांस्टेबल नौटियाल के दु:खद अंत की स्मृति से मैं सोने की बजाय गाड़ी लेकर अस्पताल जा पहुंची। जैसे ही मैं कमरे में घुसी, कांस्टेबल रावत, जो घटना के समय शान्त-स्थिर बने हुए थे, मुझे देखते ही फूट-फूटकर रोने लगे। उन्हें शारीरिक कष्ट नहीं हो रहा था और न ही दर्द था बल्कि उन्होंने बताया कि मेरे दया-भाव से उन्हें हड्डी टूट जाने से भी अधिक पीड़ा का अनुभव हुआ है। उस युवक की सरलता और विशाल-हृदयता के सामने मैं सम्मान और श्रद्धा के साथ झुककर रह गई।

आज 20 वर्ष से भी अधिक समय के बाद मैं जीवन में बदलाव लाने वाली इन दो घटनाओं का आकलन कर रही हूं। सोचती हूं कि क्या मैंने कुछ नया किया था? क्या मैंने कुछ ऐसा किया था जो कोई पुरुष अधिकारी नहीं कर पाता? क्या मेरा कार्य ऐसा था जो केवल महिलाएं ही कर सकती हैं? ईमानदारी से विचार करने पर मेरा उत्तर था ''नहीं''।

मैंने वही सामान्य शिष्टाचार दिखाया था जो कोई भी अन्य व्यक्ति अपने सहकर्मी को कष्ट में देखकर करता। अन्तर बस इतना था कि कांस्टेबल नौटियाल और कांस्टेबल रावत ने अपने वरिष्ठ अधिकारी की शालीनता पर सकारात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त की थी जबकि अधिकारी तो उनकी सार-संभाल में अपने नैतिक दायित्व का निर्वाह कर रही थी।

मौजूदा राष्ट्रीय आंकड़ों के अनुसार विभिन्न राज्य पुलिस संगठनों और केंद्रीय सशस्त्र पुलिस बलों में महिला अधिकारियों का प्रतिनिधित्व मात्र 5.7 प्रतिशत है और वह भी तब जबकि भेदभाव से बचाव के लिए महिला आरक्षण विधेयक पारित हो चुका है जिसमें विभिन्न सेवाओं में महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण देने की पक्की व्यवस्था की गारंटी दी गई है।

ऐसे अनगिनत क्षेत्र हैं जिनमें महिलाओं को प्रतिनिधित्व मिला ही नहीं है। तो फिर दोषी कौन है? क्या हमारी सामाजिक धारणाएं और रस्म-रिवाज ही देश के कानून को ठेंगा दिखाकर महिलाओं को आगे बढ़ने से रोकने के अपराधी हैं? या महिलाएं स्वयं ही उपलब्ध अवसरों का लाभ उठाने में ढील दिखा रही हैं? हमें यह समझ लेना जरूरी है कि जब तक देश की आधी से ज्यादा आबादी ऐसी बेड़ियों में जकड़ी रहेगी, हम प्रगति नहीं कर पाएंगे।

1972 में सुश्री किरण बेदी ने भारतीय पुलिस सेवा की पहली महिला अधिकारी बनकर महिलाओं के प्रति चली आ रही भ्रांतियों को तोड़कर इस दिशा में बड़ी शुरुआत की थी। अब तो हर वर्ष आईपीएस में महिलाओं का चयन हो रहा है। इसी प्रकार अनेक महिलाएं केंद्रीय सशक्त पुलिस संगठनों में अधिकारी बन रही हैं। इस सबके बावजूद पुलिस की नौकरी महिलाओं के लिए सही नहीं मानी जाती।

असली बात यह है कि स्त्री-पुरुष समानता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए पौरुष और नारीत्व दोनों भावनाओं की एक सुर में निन्दा करनी होगी। हमें स्त्री-पुरुष के बीच संघर्ष नहीं चाहिए बल्कि समय की मांग है कि सभी पुरुष और महिलाएं एकजुट होकर आगे बढ़ें ताकि समानता स्थापित हो और सभी को न्याय मिले। ■